



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519  
IJSR 2017; 3(2): 145-148  
© 2017 IJSR  
www.anantaajournal.com  
Received: 25-01-2017  
Accepted: 26-02-2017

डॉ. रवीन्द्र कुमार दास  
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,  
राजधानी महाविद्यालय, दिल्ली  
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

### शाङ्कर चिन्तन प्रणाली के सामाजिक विमर्श

डॉ. रवीन्द्र कुमार दास

#### 1. प्रस्तावना मायाधिष्ठित जगत् और वर्णभेद

शाङ्कर की चिन्तन प्रणाली में जब जगद्व्यवस्था माया पर अधिष्ठित यानी मिथ्या मानी गई है तो फिर वर्ण व्यवस्था पर आधारित भेद भाव को किस सिद्धान्त के आधार पर स्वीकृत किया जा सकता है? यह प्रश्न अपने उत्तर के लिए स्वतः ही अवकाश बना रहा है।

आचार्य शाङ्कर समाज की प्रतिष्ठा को सिद्धान्ततः वास्तविक नहीं मानते अर्थात् इसकी प्रतिष्ठा का कारण वे ज्ञान और अज्ञान के पारस्परिक सांकर्य को बताते हैं। और यदि व्यवहार पक्ष में यह व्यवस्था प्रतीयमान हो रही है और प्रतीति के आधार पर इसे प्रत्यक्षमूलक स्वीकृति भी मिल रही है तो इसके सभी अंग उपांगों की स्वीकृति अनायास ही मिल जाती है चाहे वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था हो, अथवा भाषायी संरचना की व्यवस्था अथवा अन्य कोई उपसंरचना।

जब शाङ्कर की चिन्तन प्रणाली के सामाजिक पक्ष पर आते हैं तो प्राप्त होता है कि उनका चिन्तन समाज में एक नियामक व्यवस्था का पक्षधर है, न कि किसी अराजकतामूलक समाज का। वस्तुतः समाज एक व्यवस्था का ही नाम है और इसकी आन्तरिक संरचना व्यक्ति(यों) की सामूहिक अवचेतना में अधिष्ठित है। सामूहिक संस्कार भेद से मानव समाज के उपखण्डों में भेद संभव है क्योंकि इसमें महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का संस्कार है। इस प्रकार, भारतीय शास्त्र परम्परा में इस समाज की सक्रिय संरचना के सैद्धान्तिक आधार को धर्म कहा गया है। धर्म समाज की प्रत्येक उपसंरचनाओं पर अपना सैद्धान्तिक हस्तक्षेप रखता है। इन्हीं उपसंरचनाओं में से एक है वर्ण व्यवस्था। यहाँ इस प्रश्न पर कि, जब सामाजिकता का आधार ही माया अर्थात् मिथ्या है और सभी व्यक्ति वस्तुतः साम्यमूलक आत्मा (ब्रह्म) ही है, तो जो समाज में प्राप्त वर्ण भेद है, जो व्यक्ति में भेद करता है, उसे कैसे उचित ठहराया जा सकता है, पर विचार किया जाना अपेक्षित है।

चूँकि कर्म संस्कार का अधिष्ठान व्यक्तिगत (सूक्ष्म) शरीर होता है अतः कर्मानुसारी पुनर्जन्म का एक निश्चित आधार होता है, जिसमें सूक्ष्म शरीरों में भेद तो होता है। सूक्ष्म शरीर में कर्म संस्कार बने रहते हैं। कर्म संस्कारों को स्वभाव से जोड़कर देखा जाता है। स्वभाव त्रिगुणात्मक सत्त्व, रजस् और तमस् होता है। और जन्म व्यक्ति का होता है। अतः वर्ण का अधिष्ठान व्यक्ति होता है। फिर व्यक्ति अपने कर्मों और संस्कारों के कारण विशिष्ट होता ही है।

यदि सामाजिक संरचना व्यक्ति भिन्नता को स्वीकार करती हुई मान्य है तो उस संरचना में व्यक्ति के व्यक्तित्व के भेद को भी स्वीकार करना ही होगा। इसे मानव-आरोपित-रूढ़ि के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति-भेद व्यक्तियों के जिस गुण और कर्म पर आधारित है तो वर्णभेद भी उसी गुण और कर्म पर आधारित माना जा सकता है।<sup>1</sup>

लौकिक जीवन में भी दो व्यक्ति के भिन्न कर्मों के भिन्न परिणाम देखे जाते हैं फिर जन्म-पुनर्जन्म के चक्र में इस विधि एवं व्यवस्था का निषेध कैसे किया जा सकता है? वर्ण भेद का तात्पर्य शाङ्कर की चिन्तन प्रणाली के अनुसार, जागतिक व्यक्तिभेद में है।<sup>2</sup> वर्ण श्रेष्ठता की चेतना मानवीय व्यवहार की औचारिकता मात्र हैं यह न तो धर्मसंगत है, न तर्कसंगत।<sup>3</sup> किन्तु प्रत्येक मानव व्यक्ति की सामाजिक स्थिति की भिन्नता तो रहेगी और इसे मान्य भी करना पड़ेगा। व्यक्तियों के कर्मों में भेद होता है, उनके गुणात्मक उपादानों में भी भेद होता है। यह भेद आत्मा के स्तर पर नहीं है – शरीर के स्तर पर है और शारीरिक भिन्नता तो महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य है।

जाति का सम्बन्ध जन्म से है। इसमें माता-पिता के साथ मातृक-पैतृक अनुवांशिक गुणों का नैसर्गिक हस्तक्षेप होता है।<sup>4</sup> क्योंकि जन्म एक जटिल नैसर्गिक क्रिया का परिणाम होता है और फिर हिरण अथवा सूअर के शावकों की भाँति मानव शिशु जन्म से ही चलने, खाने आदि क्रियाओं में निष्णात नहीं देखा जाता, अतः उसे पारिवारिक परिवेश की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

#### Correspondence

डॉ. रवीन्द्र कुमार दास  
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,  
राजधानी महाविद्यालय, दिल्ली  
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

जहाँ व्यक्ति को जैविक पोषण के साथ सामाजिक सांस्कृतिक पोषण भी मिलता है। फलतः उस शिशु विशेष का सहज विकास उसी परिवेश के अनुकूल होता है। किन्तु भारतीय परम्परा की शास्त्रीय चिन्तनधारा में 'जन्म' प्रायः पुनर्जन्म के रूप में आख्यायित होता है। इसलिए जन्म के कई कारणों में 'पूर्व जीवन' को पर्याप्त महत्वपूर्ण माना जाता है। बल्कि वे पूर्व जीवन, एक सीमा तक, वर्तमान जीवन के निर्धारक तत्त्वों के रूप में स्वीकार किए गए हैं। मानव व्यक्ति, शङ्कर के चिन्तन में परिभाषित जागतिक जीव, के पुनर्निर्माण में व्यक्तित्व के निर्धारण का दायित्व अविद्या (अथवा त्रिगुणात्मिका माया या प्रकृति) को जाता है।<sup>15</sup> व्यक्ति (जीव) का मुख्य आधार आत्मा है जो अनादि और अनन्त रूप से सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है तथा जीवन एवं मृत्यु जैसी मर्यादाओं से परे है।<sup>16</sup> किन्तु व्यक्ति की दैहिक उपस्थिति के लिए अविद्या ही आधार प्रदान करती है। इस तरह व्यक्तित्व परस्पर दो व्याघाती आधारों पर 'अधिष्ठित' हुआ करता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि एक मानव व्यक्ति की दैहिक उपस्थिति जैविक उपस्थिति मात्र नहीं अपितु उसकी मनोवैज्ञानिक एवं परामनोवैज्ञानिक उपस्थितियों के साथ है। जैविक उपस्थिति जहाँ स्थूल शरीर है, मनोवैज्ञानिक उपस्थिति सूक्ष्म शरीर है और परामनोवैज्ञानिक उपस्थिति लिंग शरीर है। जैविक मृत्यु, शङ्कर के अनुसार, स्थूल शरीर का क्षय मात्र है। जिसे प्रचलित भाषा तथा जीवविज्ञान में जीवन का अन्त कहा गया है। किन्तु पुनर्जन्म का अधिष्ठान मनोवैज्ञानिक उपस्थिति अर्थात् सूक्ष्म शरीर है। तीनों प्रकार के शरीर द्विस्तरीय आधारों पर ही अधिष्ठित होते हैं। इनमें से दूसरा आधार यानी अविद्या सतत् परिवर्तनशील माना गया है। अतएव जैविक अथवा मनोवैज्ञानिक अथवा परामनोवैज्ञानिक परिवर्तन आश्चर्य का विषय नहीं है।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि किसी व्यक्ति की जातीय स्थिति नैसर्गिक है अतएव एक व्यक्ति – जो शारीरिक उपस्थिति के साथ ही सामाजिक भूमिका में नियुक्त हो जाता है – जन्मना (अथवा सहज) अपने जातिबोध से युक्त हो जाता है। जातिबोध नितान्त रूप से वैयक्तिक बोध है। इस बोध के निर्धारण में सामाजिक परिवेश की कोई शास्त्र सम्मत सम्यक् व्यवस्था अथवा हस्तक्षेप नहीं है। यद्यपि बाद के कुछ विद्वानों ने जाति के नामकरण के विषय में अपने विचार व सुझाव अवश्य रखे किन्तु इसका भी वर्गीकरण इसे वर्ण व्यवस्था के सापेक्ष करने हेतु किया गया है।<sup>17</sup>

वर्ण व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था है। इसे वर्णधर्म तथा वर्णाश्रम धर्म की कोटि में रखकर इसका विधान किया गया है। इस प्रकार इसका उत्तरदायित्व शास्त्र पर है<sup>18</sup>, जबकि जाति अथवा जातिबोध नितान्त निजी और वैयक्तिक स्थिति है। तथापि मानव व्यक्ति के समाजफलकीय मनोविज्ञान से संयुक्त होने के कारण दोनों ही स्थितियों, जाति बोध तथा वर्ण व्यवस्था में एक पारस्परिक सम्बन्ध—सा प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण दोनों की अविद्यामूलकता ही है। किन्तु सैद्धान्तिक रूप से जातिबोध निजी है और वर्ण व्यवस्था सामाजिक विधान यानी धर्म के अन्तर्गत है, जिसके निर्णय और विधान दोनों का अधिकार शास्त्र को है। शास्त्र भी व्यवहार सापेक्ष है, क्योंकि वह अज्ञान—व्याप्त जगत् में मूल्यवान् ही है।<sup>19</sup>

शङ्कर अपनी चिन्तन प्रणाली में व्यक्ति—सत्ता को अधिक महत्व देते हैं। उसकी निजी जागतिक उपस्थिति (अथवा स्थिति) के लिए उसे ही उत्तरदायी मानने के पक्षधर हैं। क्योंकि, वह स्वयं ही अपने प्रयासों से वह सामाजिक सीमितता का अतिक्रमण कर पूर्ण स्वतन्त्रता (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है। सम्प्रति प्रसंग जागतिक उपस्थिति का है। यहाँ आख्यायना (वर्तमान) जन्म से प्रारम्भ होता है। वर्ण व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था होते हुए भी अपने सक्रिय सम्पादन हेतु व्यक्ति पर आश्रित होती है।<sup>20</sup> वर्ण व्यवस्था में कोटि—विधान यद्यपि शास्त्र द्वारा निर्धारित किया गया है तथापि व्यक्ति को अपनी निजी योग्यता से उसमें अपना स्थान पाना होता है। व्यक्ति की योग्यता उसके गुण (त्रिगुण) तथा कर्म (विविध कर्म) हैं।<sup>21</sup> इसी के आधार पर व्यक्ति विशेष के वर्ण धर्म का (भिन्नतापरक) निर्धारण

हुआ करता है। पुनः स्मरणीय है, जन्म यहाँ पुनर्जन्म के अर्थों में अवबोध है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं, इसका कारण सुदूर अतीत तक विस्तृत है।

अतः जन्म के साथ ही किसी के वर्ण का निर्धारण नहीं हो जाता। समाज शास्त्रविहित विधानों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का संस्कार करता है ताकि उसका वर्ण निर्धारित हो सके। संस्कार के उत्तरकाल में उस वर्ण व्यवस्था द्वारा वर्गीकृत व्यक्ति के कर्तव्य एवं अधिकार का भी विधान किया गया है।<sup>22</sup> वर्ण भेद के आधार पर ही मायाधिष्ठित जगत् में व्यक्ति सामाजिक होता है। यह व्यवस्था उस सीमा तक ही मान्य है जिस सीमा तक यह मायाधिष्ठित जगत् मान्य है।

## 2. जगन्मिथ्यात्व का सामाजिक तात्पर्य

शङ्कर की चिन्तन प्रणाली में जगद्भाव को मिथ्या कहा गया है। यहाँ मिथ्यात्व का तात्पर्य इसमें है कि सभी प्रकार के जागतिक व्यवहारों का आधार अभिगृहीत तथ्य होते हैं। यद्यपि से अभिगृहीत व्यक्ति के लिए सुविज्ञात नहीं होते तथापि व्यक्ति का चित्त इनका उपयोग, संस्कारों के बल पर, ज्ञात—तथ्य की तरह ही करता है। शङ्कर के अनुसार, यह एक प्रकार की नैसर्गिक वृत्ति है, जिसमें सत्य और असत्य के सांकर्य के बल पर असत्यबोध को प्रामाणिक बोध की तरह प्रतिष्ठित रखते हुए अपने आश्रित व्यक्तियों से लोक—यात्रा व्यतीत करवाने की योग्यता होती है। शब्दान्तर से कहा जा सकता है कि व्यक्ति की जागतिक चेतना पराङ्मुख होती है, जबकि वास्तविक चेतना आत्माभिमुख होती है। किन्तु व्यक्ति चेतना का सामाजिक व्यवहार दोनों चेतनाओं के मिश्रित रूप से होता है। व्यक्ति स्वभावतः आत्मकेन्द्रित चेतना है किन्तु वह (मनोवैज्ञानिक) संस्कारवश आत्म—विरुद्ध कार्य करता है। यही जगद्भाव है जिसमें व्यक्ति अपने अनिवार्य सत्य 'आत्मा' का समुचित सम्मान न करते हुए आत्म—छलावा में निमग्न रहता है यद्यपि उसे अपने आत्मनिषेध का किञ्चित् भान भी नहीं रहता।

जगत् सत्ता बोध, शङ्कर मत के अनुसार, व्यक्तित्व सापेक्ष बोध है।<sup>23</sup> व्यक्तित्व के परिवर्तन से जगत् के बोध में परिवर्तन होते देखा जा सकता है। जगत् कोई निरपेक्ष स्थिति नहीं है। जगत् को सापेक्ष मानने का अर्थ नहीं लिया जा सकता कि वह 'असत्य' है। बल्कि, इसका तात्पर्य मात्र इतना है कि जगत् प्रत्येक व्यक्तित्व के लिए (अथवा की दृष्टि से) अनिवार्यतः एक जैसा नहीं है।<sup>24</sup> इसके अतिरिक्त, एक व्यक्ति (इकाई) के वैयक्तिक सन्दर्भ में परिवर्तन से 'जगत्' में भी सापेक्षित परिवर्तन होता है। इस चिन्तन प्रविधि से यह निष्कर्ष निकाला जाना भी युक्तिसंगत नहीं होगा कि उनका चिन्तन विषयनिष्ठितावादी है।<sup>25</sup> अपरिवर्तित सत्ता को परिवर्तनशील मानना अथवा परिवर्तनशील को अपरिवर्तित मानना विषयनिष्ठतावाद का दृष्टान्त हो सकता है। जगत् एक अवधारणा है, जगद् व्यवहार का एक प्रत्यक्षयोग्य स्थिति है। किन्तु इसे अवधारित करना अथवा प्रत्यक्ष करना विषयसापेक्ष स्थिति है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि शङ्कर की चिन्तन प्रणाली में जगन्मिथ्यात्व का तात्त्विक तात्पर्य इसमें है कि जगत् सर्वथा निरपेक्ष सत्ता नहीं अपितु एक स्थिति है जिसकी अवधारणा में व्यक्ति भेद से भिन्नता सम्भव है, न कि जगत् के अस्तित्व का निषेध किया गया है।<sup>26</sup> अस्तु! यहाँ इस प्रसंग पर किञ्चित् विचार किया जाना अपेक्षित है कि शङ्कर की चिन्तन प्रणाली में जगन्मिथ्यावाद के सिद्धान्त के सामाजिक निहितार्थ क्या हैं?

सैद्धान्तिक दृष्टि से, समाज एक संरचना है, जो कि प्रायः सम्बन्धों के ताने—बाने के रूप में प्रत्यक्ष होती है। अब, चूँकि समाज की सबसे छोटी ईकाई परिवार है और शङ्कर ने पारिवारिक सम्बन्धों के आधार की वास्तविकता पर भी सूक्ष्मता से विचार किया है। उनके अनुसार पारिवारिक सम्बन्धों का आधार कोई निरपेक्ष और ठोस सत्ता नहीं होकर सापेक्ष और परिवर्तनशील सत्ता होती है।<sup>27</sup> वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति आत्म—कामी होता है और किसी कारण से अपनी सीमितता से असन्तुष्ट होकर सम्बन्धों में अपनी

पूर्णता की खोज करने लगता है। आत्म-कामी होना, शङ्कर की दृष्टि में, अनुचित नहीं है। किन्तु आत्म-काम के अनुचित दिशा-निर्देश मिलने से व्यक्ति की चेतना और उसके विपरीत दिशा में अभिमुख होने से व्यक्ति में जो अपूर्णता बोध उत्पन्न होता है। इसके शमन के लिए व्यक्ति सामाजिक होने को प्रस्तुत होता है। फलतः आत्म-काम और अपूर्णता-बोध इन दोनों से प्रताड़ित व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों के साथ यदि सामाजिकता को वास्तविक भी मान लेता है, तो वह स्वयं अथवा अन्य के साथ भी कैसे न्याय कर सकता है?<sup>18</sup> तो भी, इन्हीं पंगु आधारों पर सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना गढ़ा हुआ है। और शङ्कर इस बात से भी पूर्ण अभिज्ञ हैं कि ये सम्बन्ध 'देह' पर आधारित सम्बन्ध हैं। जितने भी सामाजिक भाव हैं, यथा - नाम, रूप, गुण, मान, सम्मान, अपमान, पद-प्रतिष्ठा आदि सभी दैहिक आधार की अनिवार्य स्वीकृति पर सम्भव है।<sup>19</sup> एक व्यक्ति के 'देह' की जो स्थिति है, उसी से सभी 'सामाजिक' सम्बन्धों का चरित्र भी निर्धारित होता है और बदलता रहता है। और तो और, आचार्य शङ्कर इस तथ्य से भी भली-भाँति सुपरिचित हैं कि परिवार और पारिवारिक संरचना, जो सामाजिकता की आधारभूत ईकाई है, के मूल वित्त है।<sup>20</sup> इस वित्त के चरित्र से तो सभी भली-भाँति परिचित हैं। यहाँ यह देखा जा सकता है कि समाज की महत्वपूर्ण ईकाई परिवार है और उसके सम्बन्धों का भी कोई ठोस और निश्चित आधार नहीं है जिसे 'सत्य' की तरह मान्य किया जा सके। अब, समाज समग्र की मूल-संरचना पर शङ्कर के दृष्टिकोण की संक्षिप्त समीक्षा की जाए कि वे इस संरचना की व्याख्या किस रूप में करते हैं? अर्थात् जो भी समाज के रूप में प्राप्त अथवा स्वीकार्य है - उसमें कितनी वास्तविकता है, कितना निश्चय है? एक बार पुनः स्मरण करने योग्य है कि आचार्य शङ्कर का जगन्मिथ्यावाद का अभिप्राय स्थिति का अस्वीकार नहीं है, अपितु संरचना की आधारभूति की प्रतिष्ठा और स्थैतिकी पर समस्यामूलक दृष्टि से विचार करना है। प्रारम्भिक अध्यायों में सामाजिक संरचना और उसकी उपाश्रित संरचनाओं पर किंचित् परामर्श किया जा चुका है। जिसे अवधारणात्मक अर्थों में समाज कहा गया है, वह यद्यपि भावरूप है तथापि प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। जैसे भाषा, जाति, बोध, परम्परा, रुढ़ियाँ, आस्था आदि अनेक सामाजिकता की उप-संरचनाएँ हैं - इनके स्वरूप पर विचार करने पर प्राप्त होता है कि इनके उद्गम को समझा नहीं जा सकता कि ये कैसे इस अवस्था को प्राप्त हुए। ये प्रश्न तत्त्वमीमांसात्मक मूल्य के हैं। किन्तु ये इतने आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं कि समग्र सामाजिक कार्य-व्यापार इन्हीं संरचनाओं के माध्यम से ही सम्भव हो पाता है। इनसे मानव समाज का नित्य सम्बन्ध है।<sup>21</sup> इन संरचनाओं का विश्लेषण तो किया जा सकता है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि विश्लेषणात्मक विधि प्राप्त तथ्य पर ही आधारित होती है। समाज संरचना को यदि विश्व-व्यापी माना जाए तो इसकी उप-संरचनाओं के प्रकट रूप में भिन्नता के दर्शन सहज ही हो जाते हैं। किन्तु यदि उनके आन्तरिक स्वरूप की परीक्षा की जाए तो इनमें एक ऐक्य के भी दर्शन होते हैं।<sup>22</sup> अब, इन दोनों रूपों - एकता और अनेकता का सामंजस्य कैसे हो, जबकि ये तो दो परस्पर विरोधी स्थितियाँ हैं। शङ्कर इन विरोधों का समाहार जगन्मिथ्यावाद से करते हैं।<sup>23</sup> जगन्मिथ्यावाद के सिद्धान्त का मुख्य प्रयोजन है - दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली स्थितियों का समाहार। इसी आधार पर, जगत् में व्याप्त अनेकमूलक स्थिति को स्वीकृत एवं व्याख्यायित किया जा सकता है। तब, जबकि यह मान लेना होगा कि अनेकता प्रतीतिमूलक है, वास्तविक नहीं। चूँकि जगत् में अनेकता है - यह प्रत्यक्ष है और इन अनेकतामूलक स्थितियों के पीछे किसी एकतामूलक स्थिति का आधार भी है।<sup>24</sup> यही जगन्मिथ्यावाद के सिद्धान्त का सार तत्त्व है। इसे स्वीकार करने पर ही बहुलतावादी सांस्कृतिक वर्चस्व की व्याख्या की जा सकती है कि समाज में प्राप्त भिन्नता वस्तुतः पानी के बुलबुले हैं जिस पर अलग-अलग कोणों

से रोशनी पड़ रही है और वे अलग प्रतीत हो रहे हैं। किन्तु पानी तो एक है। पानी और पानी अलग नहीं हो सकता। यदि शङ्कर के सिद्धान्त जगन्मिथ्यावाद की परिस्पष्ट व्याख्या की जाए तो प्राप्त होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की पृथक् सामाजिकता है। सामाजिकता के सन्दर्भ में प्रत्येक व्यक्ति की पृथक् एवं निजी सत्ता है।

### 3. मायावाद का लोकविरोधी बुद्धिवाद

आचार्य शङ्कर की चिन्तन प्रविधि में मायावाद का सिद्धान्त पर्याप्त महत्वपूर्ण माना गया है। सैद्धान्तिक रूप में, माया से तात्पर्य वैसी किसी भी स्थिति से है जो कि विषयि-सापेक्ष मात्र है। इसके विषय में, शङ्कर के मतानुसार, किसी भी प्रकार का निरपेक्ष, अपिच, निश्चयात्मक कथन नहीं किया जा सकता।<sup>25</sup> इस प्रकार, जिसके विषय में निश्चयात्मक कथन सम्भव नहीं - वह 'माया' है। मायावाद के सिद्धान्त को समझने के लिए उनके द्वारा प्रस्तावित अध्यास की अवधारणा पर विचार करना आवश्यक है। अध्यास का लक्षण कुछ इस प्रकार बताया गया है कि स्मृति रूप किसी पूर्वदृष्ट विषय का विषयी व्यक्ति को किसी अन्य अधिष्ठान में प्रतीयमान होना अध्यास है स्पष्ट है कि अध्यास विचार को अकारण अथवा अकस्मात् नहीं माना गया है अपितु इसमें व्यक्ति को अपने निजी (मनोवैज्ञानिक) संस्कार, जिसे शङ्कर नेमन की वस्तु कहा है, ही उद्बुद्ध होकर प्रतीयमान होने लगता है। इसकी अपनी एक शृंखलाबद्धता होती है। दूसरे शब्दों में, यहाँ कोई पहले से जाना हुआ, या पहले से चित्त द्वारा ग्रहण किया गया विषय, जो किसी गुण साम्य के कारण दिखने-सा लगता है। यहाँ चित्त को चित्त का ही विषय दिखता है। इसे चित्त की विकृति के रूप में समझा जा सकता है। स्वस्थ चित्त में विकृति नहीं आ सकती, बल्कि परस्थ चित्त में ही विकृति आती है।<sup>26</sup>

यह अध्यास-विचार ही मायावाद की सैद्धान्तिकी है। जिस विषयी के चित्त में संस्कार रूप में विषय अधिष्ठित न हो, वह अध्यास से ग्रस्त नहीं होगा। अध्यास में बोध की प्रक्रिया प्रमाण की तरह चलती है अतएव सहसा इस पर अविश्वास नहीं किया जाता बल्कि अध्यास अथवा प्रमाणाभास से प्राप्त निर्णय पर विषयी की प्रतिक्रिया अनिवार्य रूप से वास्तविकता ही होती है। इसी सत्य और मिथ्या के सांकर्य से जगदव्यवहार अर्थात् लोक जीवन का निर्वाह होता है। किन्तु शङ्कर ने इसे स्थिति के रूप में स्वीकार नहीं करके 'समस्या' के रूप में इसे वर्गीकृत किया।<sup>27</sup> और लोक-जीवन का आधार ही जब 'समस्या' के रूप में वर्गीकृत हो जाए तो लोक-विरोधी कहा जाना विस्मयबोधक नहीं प्रतीत नहीं होता। लोकजीवन की प्रविधि सामान्यतः यथास्थितिवाद होती है। वहाँ समस्यामूलक स्थिति को भी प्रदत्त स्थिति के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। व्यक्ति की दैहिक अवस्थिति को ही अस्तित्व का वास्तविक आधार मान लिया जाता है। फलतः उसके गुण-दोषों को भी प्रामाणिक माना जाता है और दैहिक अवस्थिति पर आधारित सम्बन्धों को वास्तविक माना जाता है। लोक-जीवन में ज्ञान का तात्पर्य पारम्परिक विश्वास में होता है।<sup>28</sup> इन विश्वासों का मौलिक आधार मान्यताएँ होती हैं। यद्यपि मान्यताओं में परिवर्तन होता है किन्तु मान्यताओं का स्थानापन्न नहीं होता। संक्षेप में, लोक-जीवन का प्रारम्भ अनेक प्रकार की पूर्व-स्थापनाओं के साथ होता है। इसकी स्वीकृति के साथ ही सामाजिक व्यक्ति अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह कर सकता है। उसे 'संशय' करने का अवकाश नहीं मिलता। परन्तु इससे अपेक्षित परिणाम नहीं प्राप्त होने को भी, भले ही खिन्न मन, स्वीकार करना होता है, इसे जीवन की वास्तविकता के रूप में परिभाषित किया जाता है।

शङ्कर की चिन्तन प्रणाली इस 'यथास्थितिवाद' को समस्या के रूप में अपनाती हुई इसे 'मायावाद' की संज्ञा देती है। यह प्रथमदृष्टया लोक-विरोधी प्रतीत होती है। दृष्टान्त के लिए, मृत्यु लोक-जीवन में व्यक्ति के जीवन की समाप्ति मानी जाती है किन्तु शङ्कर की चिन्तन प्रविधि इसे व्यक्ति की अनन्त यात्रा की एक

घटना भर मानती है। यहाँ इस पर विचार किया जाना अपेक्षित है कि इस कथित 'लोक-विरोधिता' का निहितार्थ क्या है? चिन्तन प्रणाली का मुख्य केन्द्र यह नहीं होता कि 'क्या होता है' अपितु यह है कि 'क्या हो सकता है।' चिन्तन यथास्थितिवाद के मताग्रह को तोड़ने हेतु प्रयत्नशील होता है, यद्यपि वह तथ्य, दृष्टान्त आदि इसी लो से लेता है। किन्तु बौद्धिक संरचना, सामान्यतः, यथास्थितिवाद से अनुकूलित हुआ करती है इसलिए चिन्तन की नई सरणि उस अनुकूलित बौद्धिक संरचना को तोड़ती हुई सी प्रतीत होती है।<sup>129</sup>

शङ्कर की प्रणाली जागतिक व्यवहार को यथास्थितिवादिता के मताग्रह पर आश्रित मानती है और उनकी आधारभूत मान्यताओं पर पुनर्विचार का आग्रह करती है जो कि सामान्यतः विरोधाभासों पर (ज्ञान और अज्ञान के विलक्षण सम्मिश्रण) पर आधारित है। किन्तु सर्वलोक प्रत्यक्ष, अपिच, स्वीकृत मान्यताओं को नकारा नहीं जा सकता।<sup>130</sup> इसलिए आचार्य शङ्कर ने इस स्थिति को प्रश्नांकित किया। सूक्ष्मता से उन बिन्दुओं को रेखांकित किया जो अ-ज्ञान (मान्यताओं) का प्रस्तावक और नियामक है। वह 'मन' है, जिसे सामान्यतः ज्ञान-प्रक्रिया में नियामक तत्त्व माना जाता है – शङ्कर की प्रणाली इसे ही संस्कारों से नियंत्रित मानती है।

लोक चेतना की ज्ञान प्रक्रिया विश्वासमूलक होती है। संशय और विश्वास – इन दोनों में वह विश्वास को अधिक प्रश्रय देती है। वहाँ प्रमाण का तात्पर्य – एक बनी बनाई प्रणाली में है।<sup>131</sup> वहाँ शारीरिक अंगों, यथा – ज्ञानेन्द्रियों पर अविश्वास करने का प्रचलन नहीं होता। मन को भ्रमात्मक अवबोध के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता, अपितु प्रक्रिया में वस्तुगत दोष अर्थात् प्रत्यक्षगत दोष को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कर्म-फल विधान अनिवार्य माना जाता है, साथ ही, फलापेक्षी कर्म करने का प्रचलन होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण और वर्तमान काल को ही जीवन का सबसे बड़ा सत्य माना जाता है। कदाचित् जब ईश्वर देवता आदि अवधारणाओं की सत्ता स्वीकार भी की जाती है तो इसका उद्देश्य कर्त्ता के अहंकार को दृढ़ करना भी होता है।

शङ्कर की चिन्तन प्रणाली इन स्थितियों को सहसा अस्वीकार नहीं करती, यद्यपि निस्संदेह रूप में स्वीकार भी नहीं करती।<sup>132</sup> अपितु इन स्थितियों की व्याख्या मायावाद के सिद्धान्त से करती है। मायावाद के सिद्धान्त के अनुसार, सभी प्रकार के लौकिक व्यवहार सापेक्षिक रूप में स्वीकरणीय है और सापेक्षिक रूप से अ-स्वीकरणीय भी हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण यह जानना है कि चेतन ज्ञाता की अपेक्षा क्या है? यदि अपेक्षा आत्मान्वेषण है तो जगत् और जागतिक प्रपंच (विस्तार) को मिथ्या मानना होगा और यदि अपेक्षा लौकिकता है तो जगत् और जागतिक प्रपञ्च मिथ्या नहीं माने जाएंगे।<sup>133</sup> दृष्टान्त के लिए, पुत्र, पत्नी आदि के सम्बन्ध वस्तुतः आत्मपरिक होते हैं, अर्थात् कोई व्यक्ति आत्मानन्द के लिए इन सम्बन्धों में बन्धता है किन्तु वह चाहता स्वयं को ही है और स्वयं के लिए इनको भी चाहता है। उसे 'अन्य' का आभास मात्र है, बोध अपना ही है। परन्तु यदि अपनी अस्मिता ही कोई अपने सम्बन्धों में देखता है तो 'अन्य' की बोधात्मक स्वीकृति भी उसे देनी होती है। प्रसंग आत्मास्तित्व का है किन्तु अपेक्षा आत्मान्वेषण तथा सम्बन्धान्वेषण है। आत्म तत्त्व अविनाशी है तथा अविचल है जबकि सम्बन्ध नश्वर तथा चल है। जागतिक प्रपंच के नियम यद्यपि दोनों को स्वीकार करता है – किन्तु महत्त्व सम्बन्ध-विज्ञान को देता है। मायावाद का सिद्धान्तकार भी दोनों को आधार रूप से मान्य करते हुए आत्म-विज्ञान को महत्त्व देती है।<sup>134</sup> इस प्रकार सम्बन्धान्वेषण साध्य की अपेक्षा साधनरूपेण भुक्त माना जाएगा।

### संदर्भ

1. गी.भा. 4.13
2. यह आत्मा का नहीं, शरीर का भेद है।
3. किसी वर्ण को श्रेष्ठ अथवा अधम मानना रूढ़ि है, शास्त्र नहीं।
4. माता-पिता से शरीर ही नहीं, संस्कार भी मिलते हैं।

5. इसे 'स्वभाव' कहा गया है। गी.भा. 18.42
6. न जायते भ्रियते वा। क.उ.
7. मनुस्मृति दशम अध्याय
8. वर्ण का निर्धारण शास्त्रसम्मत धर्म पर है। इसमें परिवर्तन सम्भव है।
9. ब्र.सू.भा.भू.
10. क्योंकि वर्ण व्यक्ति का होता है। जो व्यक्ति ब्राह्मण के घर में उत्पन्न होकर भी ब्राह्मणों का कर्तव्य पूरा नहीं करता, उसे ब्रह्मबन्धु (अवमानना का सूचक) कहा गया है।
11. गुण कर्मविभागशः।
12. जन्मना जायते शूद्रः संस्कारत् द्विज उच्यते।
13. मनः कल्पित एवं पुंसः संसार टि. मन व्यक्तिगत ही होता है।
14. अविद्या, वासना और पूर्वप्रज्ञा-निर्धातक तत्त्व कहे गए हैं। (बृ. उ.भा. 1.4.14)
15. अज्ञान विषयिनिष्ठ है, ज्ञान वस्तुनिष्ठ।
16. जगद्दृष्टि का निषेध है जो कि ब्रह्म रूपी अधिष्ठान पर प्रक्षेपित है।
17. यावद्विक्तोपार्जनसक्तः तावन्निजपरिवारो रक्तः।
18. मनुष्य अपनी कमी बाहर पूरा करना चाहता है। आत्मनस्तु कामाय।
19. वि.चू. 93
20. क्षीणे वित्ते कः परिवारः।
21. द्रष्टव्य द्वितीय अध्याय (इसी पुस्तक का)
22. भाषा-संरचना की व्यवस्था प्रत्येक भाषा के सन्दर्भ में समान है।
23. यदि परिवर्तन सत्य है तो जगन्मिथ्यात्व को न्यायोचित अभिकथन ही माना जाएगा।
24. मृत्तिका एव सत्यम्।
25. ब्र.सू.भा. 1.4.3
26. स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।
27. अनर्थहतोः।
28. वि.चू. 93
29. अध्यासमाश्रित्य
30. ब्र.सू.भा.भू.
31. यह सर्वजनप्रत्यक्ष है। वही
32. इसमें पूर्वमान्यताओं (अध्यास) का हस्तक्षेप होता है।
33. सापेक्षिक स्वीकार की स्थिति। प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोत्पत्तेः।
34. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।
35. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।